

# तीर्थंकर महावीर

## जन्म और विहार क्षेत्र

तीर्थंकर महावीरने बिहार की पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५६ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्ष की भरी जवानीमें राज्य वैभव त्याग कर वे आत्मसाधनामें लीन हुए थे, व्यक्ति की मुक्ति और समाजमें शान्ति का मार्ग खोजनेके लिए। १२ वर्ष की दीर्घ तपस्याके बाद उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ और वे उसके बाद ३० वर्ष तक बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तरप्रदेशमें सतत पाद बिहार कर उपदेश देते रहे। उनके तथा शास्ता बुद्धके बिहारके कारण ही प्रान्त का नाम बिहार पड़ा। वीर भूमि (वीर भूम) और वर्धमान (वर्दवान) जिले तीर्थंकर महावीरके बिहार (विचरण) की साक्षी दे रहे हैं।

## वे तीर्थंकर थे

तीर्थंकर वह व्यक्ति बन पाता है, जो जन्म-जन्मान्तरसे यह उत्कट भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त हो वह जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अपित है। संसारके प्राणी अज्ञान-अन्धकार और तृष्णाके जालमें पड़े हुए हैं। कैसे वे प्रकाश पाएँ और तृष्णाके जालको भेद कर सन्मार्गमें लग सकें, इसी पवित्र भावनासे व्यक्ति तीर्थंकर बनता है; मोक्षमार्ग का नेता होता है। वह अपने अनुभूत धर्म मार्ग का विश्व कल्याणके लिए उपदेश देता है और अपने को खपा देता है जगत्के उद्धारमें। तीर्थंकर स्वयं तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग का कर्ता होता है। वह किसी शास्त्रमें या ग्रन्थमें लिखे हुए धर्म मार्ग का प्रचारक नहीं होता, किन्तु अपने जीवनमें जिस धर्म का साक्षात्कार करता है और जिस मार्गसे अपनी आत्मा की मुक्ति का द्वार पाता है, उसी धर्म का वह उपदेश देता है। जिस मार्गसे वह तरता है, वही मार्ग दूसरों को बताता है। वह तरण-तारण होता है। उनके तीर्थके मुख्य आधार ये हैं—

## पुरुष स्वयं प्रमाण है

धर्मके स्वरूपके निश्चय करनेमें परम्परासे आए हुए वेद या शास्त्र एकमात्र प्रमाण नहीं हो सकते; किन्तु निर्मल और तत्त्वज्ञानी आत्मा स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। वह स्वयं अपने धर्म मार्ग का निर्णय कर सकता है। इस तरह वेद या शास्त्रके नाम पर एक वर्ग की, जो धर्म का अधिकारी बना हुआ था, वह धर्म की जो व्याख्या करता था, वही सबको मान्य करनी पड़ती थी, बुद्धि की इस गुलामी को तीर्थंकरने उतार फेंका और कहा कि—व्यक्ति अपनी साधनासे स्वयं वीतरागी बन सकता है और वह केवल-ज्ञान—पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसके बल पर वह धर्म का साक्षात्कार कर सकता है और धर्म मार्ग का निर्णय भी कर सकता है। कोई भी वाक्य या शब्द, चाहे वे वेदमें लिखे हों या अन्य किसी शास्त्रमें, स्वतः (अपने आपमें) प्रमाण नहीं हो सकते। शब्द या वाक्य की प्रमाणता वक्ता (बोलने वाले) के प्रामाण्य (प्रामाणिकता) पर निर्भर होती है। जिन शब्दों का कहने वाला वक्ता वीतरागी और तत्त्वज्ञ है, वे ही शब्द प्रमाण होते हैं; अर्थात् शब्दोंमें प्रमाणता स्वयं की नहीं है, किन्तु बोलने वाले व्यक्ति की है।

एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि श्रमण संस्कृतिके महान् ज्योतिर्धर तीर्थंकर महावीर और शास्ता बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। उस समय धर्मके एक मात्र अधिकारी ब्राह्मण थे। किन्तु महावीर और बुद्धने स्वयं साधना करके धर्मके ऊपर वेद और ब्राह्मण वर्गके ही एक मात्र अधिकार की परम्परा को तोड़ कर स्वयं धर्म का उपदेश दिया। यह एक महान् विचारक्रान्ति थी। ये क्षत्रिय कुमार धर्ममें स्वयं प्रमाण बन कर धर्म तीर्थके कर्ता हुए। इतना ही नहीं, किन्तु इन्होंने धर्म का द्वार मानवमात्रके लिए खोल दिया था। इन्होंने रूढ़ वर्ण-व्यवस्थाके शिकंजेमें जकड़ी हुई मानवता को त्राण दिया और स्पष्ट कहा कि—

### वर्ण व्यवस्था व्यवहार के लिए है

आजीविकाके उपायों का वर्गीकरण वर्णव्यवस्था का मुख्य प्रयोजन है। यह सामाजिक व्यवस्था का तत्कालीन प्रयोग है। इसके आधार पर धर्माधिकारमें भेद नहीं किया जा सकता। कोई भी मनुष्य धर्मके किसी भी पद को अपनी साधनासे पा सकता है। उसके पानेमें उसका शरीर बाधक नहीं होगा। उन्होंने जन्म-सिद्ध वर्ण व्यवस्थाके विरुद्ध अपने संघमें चांडाल, माली, कहार, नाई आदि जन्मसे कहे जाने वाले शूद्रों को भी शामिल किया। और उनके लिए धर्म का द्वार ही नहीं खोला, बल्कि अपने संघमें उन्हें वही दरजा दिया, जो किसी उच्च वर्णवाले ब्राह्मण आदि को मिल सकता था। अहिंसाके व्रतियोंमें सबसे अच्छा उदाहरण यमपाल चांडाल का लिया जा सकता है। मेलार्य मुनि और हरिकेशी साधु भी चांडाल ही थे। तात्पर्य यह कि—तीर्थंकर महावीर का अहिंसा धर्म किसी वर्ण विशेषके लिए ही नहीं था, बल्कि उसकी शीतल छायामें सभी समान रूपसे शान्ति लाभ करते थे। जिन असंख्य शूद्रों को धर्म का अक्षर सुनने तक का अधिकार नहीं था, जो मनुष्य की शकलमें पशुओंसे भी बदतर थे, उन्हें धर्ममें समान पद और समान अधिकार का मिल जाना सचमुच उस युग की सबसे बड़ी क्रान्ति थी। इसी समता तीर्थ या सर्वोदय तीर्थके प्रवर्तक होनेके कारण महावीर तीर्थंकर थे।

### जगत् स्वयं सिद्ध है

जगत्के बनाने वाले ईश्वर को मानकर और वर्णव्यवस्था को ईश्वर की देन कहकर जो एकाधिपत्य की परम्परा प्रचलित थी, उसे भी तीर्थकरने स्वीकार नहीं किया। उनने बताया कि जगत्की रचना भौतिक परमाणुओंके संयोग-वियोगोंसे स्वयं हो रही है। उसमें किसी सर्व-नियन्ता का कोई स्थान या हाथ नहीं है। कहीं पुरुषके प्रयत्न उसे भले ही नियंत्रित कर लें, पर यह सब समय और सब स्थानोंके लिए नहीं है। विश्वके रंग-मंच पर असंख्य परिवर्तन आपसी संयोग-वियोगोंसे अपने आप होते रहते हैं। ऑक्सीजन और हाँड्रोजन को किसी प्रयोगशालामें विज्ञान वेत्ता भी मिलता है और आकाशमें वे अपने आप ही मिलकर जल बन जाते हैं। मनुष्य स्वयं अपने पुण्य और पाप का फल पाता है। अपने कर्म संस्कारोंके अनुसार अच्छी और बुरी अवस्था को प्राप्त होता है। इसके लिए लेखा-जोखा रखने वाले किसी महाप्रभु की न तो आवश्यकता है और न उसकी स्थिति विज्ञान-संमत कार्यकारण की शृंखलामें ही फिट—सुमिल बैठती है।

### पशुयज्ञ आदि धर्म नहीं

ईश्वरके नाम पर यह भी कहा जाता था कि स्वयंभू ईश्वरने यज्ञके लिए पशुओं की सृष्टि की है। अतः यज्ञमें पशुओं का वध करना हिंसा या अधर्म नहीं है। अहिंसाके सर्वोदयी पुरस्कर्ता तीर्थंकर महावीरने कहा कि ईश्वरने किसी को नहीं बनाया। जिस प्रकार हम स्वयं सिद्ध हैं, उसी तरह गाय आदि पशु भी। जिस प्रकार हमें प्राण प्यारे हैं, हम सुख चाहते हैं, इसी तरह वे पशु भी। कहा है—

“जह मम न पिथं दुक्खं, जाणिहि एमेव सब्बजीवाणं।”

जैसे हमें दुःख प्रिय नहीं लगता, वैसे ही सब जीवों को जानो।

“सब्बे जीवा पियाउआ सुहसाया दुक्ख-पडिकूला।”

सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सब सुख चाहते हैं, दुःखसे सब डरते हैं। इसलिए यज्ञमें पशुओं का होमा जाना कदापि धर्म नहीं हो सकता। तीर्थंकरके द्वारा किये गए इस पशुवधके विरोध का जनताने स्वागत किया। इसी तरह नदियोंमें स्नान करना, पंचाग्नि तपना, पर्वतसे गिरना, काशी करवट लेना, अग्निपात आदि क्रियाकाण्डोंमें धर्म मानने को मूढ़ता बताकर कहा कि धर्म तो आत्मशुद्धि का मार्ग है।

अपने मनकी शुद्धि ही वास्तवमें धर्म है। इस मनःशुद्धिके साथ समस्त प्राणियोंकी आत्म-समता की बुद्धिसे रक्षा करना ही परम धर्म है। इस धर्ममें प्राणिमात्र का समान अधिकार है।

### लोकभाषा की प्रतिष्ठा

भाषा भावों का वाहन है। वह एक ऐसा माध्यम है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके हृदयगत भावों को समझता है। अतः किसी भी भाषा को शिष्ट और पुण्य मानकर उससे असंख्य जनता को वंचित रखना भी रूढ़ वर्णव्यवस्था का एक अभिशाप है। संस्कृत का उच्चारण ही धर्म और पुण्य है; लोकभाषा प्राकृत, अपभ्रंश आदि का उच्चारण नहीं करना चाहिए; संस्कृत विशेषतः वैदिक संस्कृतके पढ़ने का अधिकार शूद्रों और स्त्रियों को नहीं है—इत्यादि व्यवस्थाओं द्वारा जो भाषा का साम्राज्य भारत भूमि पर स्थापित था; उसके विरुद्ध तीर्थंकर महावीरने अपना उपदेश अर्धमागधी बोलीमें दिया था। अर्धमागधी वह बोली थी, जिसमें आधे शब्द मगध-जनपद की बोलीके थे और आधे शब्द अन्य विदेह अंग, वंग, काशी, कौशल आदि महाजनपदों की बोलियोंके थे। यानी उस भाषामें १८ महाभाषाके और ७०० लघु भाषाओं (छोटी बोलियों) के शब्दों का समावेश था। इतनी उदार थी वह भाषा, जिसमें तीर्थंकर का उपदेश होता था। बुद्ध की पालि भाषा मूलतः यही मागधी है। उसका पाली नाम तो 'बुद्ध वचनों की पक्ति' के धार्मिक अर्थके कारण पड़ा है। आज हम हिन्दी और हिन्दुस्तानीके जिस विसंवादमें पड़कर भाषाके क्षेत्रमें जो चौका लगा रहे हैं और उसके नाम पर राष्ट्र की एकता को छिन्न-भिन्न करनेमें नहीं चूकते, उन्हें तीर्थंकर की लोकभाषा की इस दृष्टि को अपना कर भाषा को संकुचित रखने की मनोवृत्ति को छोड़ना चाहिए। और भाषा को साध्य नहीं, साधन मान कर उसे सब की बोली बनने देना चाहिए।

### व्यक्ति धर्म और समाज धर्म

व्यक्ति को निराकुल और शुद्ध बननेके लिए महावीरने अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर बहुत जोर दिया है और बताया कि जब तक मनुष्य प्राणिमात्रके साथ आत्म-तुल्यता की भावना नहीं बनाता; सब प्राणियों को अपने ही समान जीने का अधिकारी नहीं मानता—तब तक उसके मनमें सर्वोदयी अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। वासनाओं पर विजय पाना ही सच्ची शुद्धि है और उसकी कसौटी है ब्रह्मचर्य की पूर्णता। परिग्रह का संग्रह ही विषमता, संघर्ष और हिंसा की जड़ है। इसका संग्रह करने वाला व्यक्ति कभी सर्वोदय (सबका उदय, सबका भला) की भावना का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सबके साथ ही जीवन की शुद्धिके लिए सत्य का भी उतना ही स्थान है, जितना अहिंसा का। सत्य का आग्रह होना और उसके निभानेके लिए प्रत्येक त्याग की तैयारी रखना परिग्रह-लिप्सु, वासनाओंके गुलाम और हिंसक अर्थात् दूसरोंके अधिकार को हड़पने वाले व्यक्तिके वश की बात नहीं है। इसी तरह अचौर्यव्रत अर्थात् दूसरों की वस्तु को नहीं चुराना यानी दूसरोंके अधिकार और श्रम को हड़पने की वृत्ति का न होना—यह जीवन शुद्धि का महान् प्रयोग है। एक तरहसे देखा जाए, तो मनमें अहिंसा की ज्योतिके जगते ही अचौर्य की प्रवृत्ति और सत्य का आग्रह अपने आप ही आ जाते हैं; और इन सबको निभानेके लिए इन्द्रियजय ही नहीं, इन्द्रिय दमन रूप संयम या ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नितान्त आवश्यक है।

इन पाँच व्रतों का, जो वस्तुतः अहिंसाके ही विस्तार हैं; जीवन शुद्धिमें जितना उपयोग है, उससे भी अधिक इनका स्वस्थ समाजके निर्माणमें मूलभूत स्थान है। समाज रचना की मूल भूमिका है—प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाईके प्रति आत्म-समानता का भाव यानी प्रत्येक इकाई को अपनी ही तरह समान

## ३९६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

अधिकारी मानना । इस सर्वोदयो रूप की पूर्णताके लिए सबसे पहले व्यक्तिके मानसमें सर्व समता रूपी अहिंसा की ज्योति जगना ही चाहिए। उसीके निर्मल प्रकाशमें वह नव समाज निर्माणके मंगलमय रूप की रचना कर सकता है। इस आत्म-समानता की ज्योतिके जगते ही अपरिग्रह या समान-परिग्रह की प्रवृत्ति उसमें स्वतः ही आ जाएगी। वह अपनी आवश्यकताओं को इतना सीमित रखेगा, कि समाज की प्रारंभिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाएँ, उसकी पूर्णतामें बाधा न आए, विषमताके वातावरण की सृष्टि न हो। समान-अधिकार वाली समाज की स्वस्थताके लिए परस्पर सत्य व्यवहार और अचौर्यवृत्ति यानी दूसरों की भोग्य वस्तु या अधिकार को नहीं हड़पना—ये मूल बातें हैं। और यह सब तब हो सकता है, जब जीवनमें से विलासिता, वासनाओं की गुलामी और इन्द्रिय लोलुपता की बेरोक प्रवृत्तियाँ दूर हो जाएँ। अर्थात् सीमित ब्रह्मचर्य स्वस्थ समाज की स्थिरता का प्राणभूत आधार है।

### विचारशुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि

संसारके हर एक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं। किसी एक पदार्थ की संपूर्ण विशेषताओं—खूबियों को जान लेना हम-तुम जैसे अल्पज्ञानियोंके वश की बात नहीं है। कोई पूर्ण ज्ञानी उन्हें जान भी ले, तो भी वह उनका वर्णन तो कर ही नहीं सकता। ज्ञान-विज्ञान की असंख्य शाखाएँ हमारे सामने हैं। उस ज्ञान समुद्र की एक बूँद को भी पूर्ण रूपसे न पाने वाला यह मनुष्य कितना अहंकारी बन गया है कि वह अपने एक दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य मानने का ढोंग कर बैठा है। तीर्थंकर महावीरने उसके इस दंभ को झक-झोरते हुए कहा—क्षुद्र मानव ! तू कहाँ है ? इस अनन्त विश्वके एक कण को भी तू पूरे रूपसे नहीं समझ पाया है। प्रत्येक कण—अणु अनन्त धर्मों का आधार है। अतः वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें जितने भी विचार और दृष्टिकोण सामने आएँ, उन्हें सहानुभूति और वस्तु स्थितिके आधारसे देखो। कोई विचार या दृष्टिकोण एक अपेक्षासे ही सत्य हो सकता है, सभी दृष्टिकोणों या पूर्ण रूपसे सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही जब अनेकान्त यानी अनन्त धर्म वाला है, तब उसके एक-एक अंश को पकड़ने वाला विचार पूर्ण सत्य कैसे हो सकता है। तात्पर्य यह कि विचारशुद्धि और सत्यताके लिए आवश्यक है कि वस्तु की अनन्त धर्मता और अपनी संकुचित शक्ति का भान हमें रहे। ऐसी स्थितिमें हम अपने ही विचार, दृष्टिकोण या अभिप्राय को पूर्णतया सत्य मानने का दावा या दंभ नहीं कर सकते। कोई भी विचार अपने रूपमें किसी एक दृष्टिसे ही सत्य हो सकता है, सर्व या संपूर्ण दृष्टियोंसे नहीं। यह अनेकान्त दर्शन ही विचार शुद्धि का वास्तविक आधार है और इसी की मंगलमय ज्योतिमें हम ज्ञानके अहंकार और उस अहंकारसे होने वाले विविध मत-मतान्तरोंके सांप्रदायिक कुचक्रसे मानव समाज की रक्षा कर सकेंगे।

### स्याद्वाद भाषा

तीर्थंकर महावीरने इस अनेकान्त दर्शनके साथ ही साथ भाषा की एक निर्दोष पद्धति भी बताई। जब छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ अनन्त धर्म वाली हैं और हमारा ज्ञान उनके एक ही अंश को एक समयमें पकड़ सकता है, तब हमारी भाषा भी सापेक्ष (किसी अपेक्षा से) होनी चाहिए। हम सिर्फ वस्तुके एक ही अंश को जानकर भी 'वस्तु ऐसी ही है' इस प्रकार जो एक दृष्टि को सर्व निश्चयात्मकता या संपूर्णरूपता देने वाले 'ही' का प्रयोग करते हैं, वह हमारे अहंकार और असत्य का ही द्योतक होता है। जब कि हमें सदा 'वस्तु ऐसी भी है' इस प्रकार सापेक्षताके द्योतक 'भी' शब्दके प्रयोग की निर्दोष पद्धति सीखनी चाहिए। जब एक ही वस्तु अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी जा सकती है, और वे सभी दृष्टिकोण अपनेमें सत्य हैं; तब एक दृष्टिकोण पर 'ही' लगाकर भार देने का मतलब यह होता है कि दूसरे दृष्टिकोणोंसे वह देखने लायक नहीं

है। किन्तु इसके उलटा 'भी' शब्द अपने दृष्टिकोण की आंशिक सत्यता बताकर भी दूसरे आंशिक सत्यों का निषेध नहीं करता। अतः समग्र दृष्टिसे वस्तु का कथन करते समय हमें इस दुराग्रहकारी 'ही' से बचकर समन्वयकारी 'भी' शब्दके प्रयोग को अपनाना ही होगा। 'स्यात्' शब्द इसी 'भी' का प्रतिनिधि है। 'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं है। किन्तु यह 'स्यात्' सुनिश्चित दृष्टिकोणसे आंशिक सत्यता को बताता है। यह हम मानते हैं कि हर एक दृष्टिकोण भी अपनी आंशिक सत्यता का दावा 'ही' शब्दसे कर सकता है, पर संपूर्ण सत्यके लिए तो वह 'भी' ही कह सकता है। सारांश यह है कि स्याद्वाद भाषा संशय या संभावना रूप न होकर सुनिश्चित दृष्टिकोण या आंशिक सत्य को निर्णयात्मक रूपसे प्रकट करने वाली एक अहिंसक भाषा पद्धति है।

इस तरह विचारमें अनेकान्त दर्शन, आचारमें अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य और अपरिग्रह तथा इन सबके लिए सत्य की निष्ठा और जीवन शुद्धिके लिए ब्रह्मचर्य यानी इन्द्रियविजय आदि धर्म तीर्थ का प्रवर्तन महावीरने किया।

हमने पंचशील का जो उद्घोष विश्वशान्तिके लिए किया है, वह महावीर जैसे तीर्थंकरों की अनेकान्त दृष्टि, समन्वय की प्रवृत्ति और अहिंसा की पवित्र भूमिका पर ही हुआ है।

